

संगठनात्मक ढाँचे दुविधा में : सहकारी और उत्पादक कंपनियाँ

Organizational Forms in Flux: Cooperatives and Producer Companies

विवेक भंडारी

Vivek Bhandari

December 20, 2010

पिछले दशक में स्थिर आर्थिक विकास के कारण नाटकीय परिवर्तन कुछ इस तरह से हुए हैं कि इनसे भारतीय शहरों का गाँवों से एक रिश्ता-सा बन गया है और इस रिश्ते को अक्सर अविराम बताया जाता है. भले ही यह रिश्ता ग्रामीण बाज़ारों में भारी संभावनाएँ देखने वाले निजी उद्यमों के जबर्दस्त विस्तार या सरकार की कल्याणकारी योजनाओं के कारण बना हो या फिर वस्तुतः “सरकारी-निजी भागीदारी” के माध्यम से बनी नीतियों के कारण रहा हो, लेकिन इसके कारण अनेक स्तरों पर दबाव महसूस होने लगा है.

यह दबाव खास तौर पर उन संगठनों पर सचमुच पड़ा, जिनकी स्थापना 1950 के दशक से ही अर्थात् भारत की आज़ादी के आरंभिक वर्षों में ग्रामीण क्षेत्रों में हो गई थी और जिनका संस्थागत चरित्र प्रबंधन और शासन की उस प्रणाली में ढला था जिसको राज्य द्वारा नियंत्रित विकास के संदर्भ में आकार दिया गया था. इनकी स्थापना का उद्देश्य बड़ी आबादी की आकांक्षाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति करने के साथ-साथ स्पष्ट रूप में विकास करना भी था,लेकिन इनमें से कई संगठनों पर तो उच्च स्तर पर नौकरशाही का शिकंजा कसा हुआ था. देश की अर्थव्यवस्था में निजीकरण के बढ़ते दौर के कारण इस प्रकार की संस्थागत व्यवस्थाओं में दरार पड़ने लगी है,क्योंकि वे कभी इतने जीवंत और मज़बूत नहीं रहे और न ही उनमें समकालीन बाज़ारों के उतार-चढ़ाव के अनुरूप ढलने की क्षमता रही. ये विचार भारत में इन दिनों चल रहे वादविवाद में उभरकर सामने आए हैं.ये वादविवाद इस बात पर हुए कि ग्रामीण उत्पादकों के हितों के संरक्षण के लिए सहकारी संगठन या उत्पादक कंपनियाँ कितनी कारगर रही हैं. भारत की विशाल डेरी सहकारी संस्थाओं,जिनकी सफलता को अक्सर “श्वेत क्रांति” का नाम दिया जाता है, के भविष्य पर होने वाले वादविवाद से विभिन्न परिवर्तनों की एक ऐसी झलक दिखाई पड़ती है,जिनसे सीख ली जा सकती है.

भारत का डेरी आंदोलन, जिसे अक्सर “अमूल” ब्रांड से जोड़ा जाता है, 1950 के दशक में शुरू हुआ और जल्दी ही मज़बूत होकर लाखों लोगों की आजीविका का आधार बन गया. यह सहकारी आंदोलन गुजरात से शुरू हुआ और जल्दी ही राष्ट्रीय आंदोलन बन गया और भारत 1999-2000 में अमरीका से भी आगे निकलकर विश्व का सबसे बड़ा दुग्ध उत्पादक देश बन गया. हाल के वर्षों में भारत के दुग्ध उत्पादन की वार्षिक वृद्धि की दर

5 और 6 प्रतिशत के बीच में है, जबकि विश्व की वार्षिक वृद्धि दर 1 प्रतिशत के आसपास ही रही है. भारत में इसकी तीव्र वृद्धि का श्रेय डेरी आंदोलन की सफलता को ही दिया जाता है, जिसे ऑपरेशन फ़्लड (ओएफ़) कार्यक्रम के अंतर्गत राष्ट्रीय महत्व प्राप्त हुआ और जिसे यूरोपीय संघ, विश्व बैंक, खाद्य व कृषि संघ (एफ़एओ) और विश्व खाद्य कार्यक्रम (डब्ल्यूएफ़पी) सहित बहुपक्षीय एजेंसियों ने सहायता प्रदान की. डेरी आंदोलन की सफलता का श्रेय अक्सर वर्गीज़ कुरियन और त्रिभुवन दास पटेल के नेतृत्व को दिया जाता है, जिन्होंने “आणंद के ढाँचे” पर सहकारी संस्थाओं को स्वरूप प्रदान किया और इसका डिज़ाइन ऊर्ध्व रूप में इस प्रकार समन्वित किया कि जिसमें एक ही संस्था के अंतर्गत ऊपर से नीचे तक डेरी उत्पादों की प्राप्ति, प्रसंस्करण और विपणन का काम किया जाने लगा. कुरियन 1990 के दशक के उत्तरार्ध तक राष्ट्रीय डेरी विकास बोर्ड (एनडीडीबी) के संस्थापक अध्यक्ष के रूप में काम करते रहे और इसकी सफलता के लिए उसे संस्थागत गतिशीलता प्रदान करते रहे.

भारतीय डेरी सहकारी उद्योग पिछले छह दशकों से स्थिर बना रहा है, लेकिन 1990 के दशक से उदारीकृत अर्थव्यवस्था के कारण ऐसा दबाव बनने लगा है कि सहकारी संस्थाओं को प्रतिस्पर्धी बनाए रखने के लिए नई संस्थागत व्यवस्थाएँ खोजने की आवश्यकता पर चर्चा शुरू हो गई है. सहकारी संस्थाओं के पंजीयक की पुरातन विधायी विशेषताओं के साथ बढ़ती प्रबंधकीय कुंठाओं के कारण इन चर्चाओं को बल मिला. कुछ क्षेत्रों में यह महसूस किया गया कि मोटे तौर पर “नई पीढ़ी की सहकारी संस्थाओं” (एनजीसी) के पश्चिम में प्रचलित मॉडल के आधार पर वर्तमान सहकारी संस्थाओं को वैकल्पिक डिज़ाइन दिया जा सकता है. पिछले दशक में इस प्रकार के प्रयासों को बल भी मिला है और यही कारण है कि राष्ट्रीय डेरी विकास बोर्ड (एनडीडीबी) ने “नई पीढ़ी की सहकारी संस्थाओं” (एनजीसी) को मोटे तौर पर इस आधार पर अपना भी शुरू कर दिया है ताकि डेरी उत्पादक संगठन व्यवसायीकरण के बेहतर मानक हासिल कर सकें और नई अर्थव्यवस्था में प्रतिस्पर्धी बन सकें.

वर्ष 2002 में एक नया कानून पारित किया गया है और उसके कारण राष्ट्रीय डेरी विकास बोर्ड (एनडीडीबी) में आंतरिक सुधारों का सिलसिला शुरू हो गया है और तीव्र आर्थिक विकास के वर्तमान वातावरण में भारतीय डेरी के भविष्य को नया स्वरूप देने के लिए संगठन के प्रयासों में महत्वपूर्ण हस्तक्षेप के रूप में “नई पीढ़ी की सहकारी संस्थाओं” (एनजीसी) का उदय हुआ है. भारतीय कंपनी अधिनियम, 1956 के अंतर्गत तीन प्रकार की कंपनियों को मूल रूप में मान्यता दी गई है. ये कंपनियाँ हैं: लिमिटेड शेयर्स वाली कंपनी (सार्वजनिक लिमिटेड और प्राइवेट लिमिटेड कंपनियाँ), गारंटियों द्वारा

लिमिटेड कंपनियाँ और अनलिमिटेड कंपनियाँ). कंपनी (संशोधन) अधिनियम, 2002 में एक चौथे प्रकार की कंपनी का प्रावधान किया गया है, जिसे “उत्पादक कंपनी” कहा गया है, जो प्रसिद्ध अर्थशास्त्री वाई.के. अलग के नेतृत्व में विशेषज्ञ समिति की सिफारिशों पर आधारित है. समिति की ये सिफारिशें सरकार की इस माँग के कारण की गई थीं कि पहले एक कानून बनाया जाए ताकि उसके अंतर्गत सहकारी संस्थाओं को कंपनियों के रूप में अधिनिगमित किया जा सके और वर्तमान सहकारी संस्थाओं को कंपनी में परिणत करने की संभावना को सुनिश्चित किया जा सके. दूसरे, प्रस्तावित कानून में यह व्यवस्था भी की गई है कि कंपनी अधिनियम के अंतर्गत सहकारी कारोबार के इन विशिष्ट तत्वों को भी शामिल कर लिया जाए. “उत्पादक कंपनी” के मूल डिज़ाइन में जो सदस्य हैं, उन्हें पहले प्राथमिक उत्पादक बनना होगा अर्थात् वही उत्पादक कंपनी के सदस्य होंगे जो प्राथमिक उत्पाद की किसी गतिविधि से संबद्ध होंगे. इस डिज़ाइन में जवाबदेही और पारदर्शिता को भी लाया गया है, अन्यथा ये “सहकारी” मूल्यों के लिए प्रतिबद्ध मात्र समुदाय-आधारित संगठन ही रह जाते.

“आणंद ढाँचे” के अनुरूप संगठित डेरी सहकारी संस्थाएँ बहुत ध्यान से इन गतिविधियों पर नज़र टिकाए हुए हैं. डेरी क्षेत्र के प्रेक्षक सहकारी संस्थाओं की अनेक सफलताओं की बढ़-चढ़कर प्रशंसा तो करते हैं और यह सही भी है, लेकिन साथ ही वे इसके खतरनाक पक्ष की ओर भी इंगित करते हुए कहते हैं कि ये राजनैतिक दृष्टि से खतरनाक भी हो सकते हैं और इनका राजनीतिकरण तो हो ही सकता है. उदाहरण के लिए गुजरात सहकारी दुग्ध विपणन संघ (जीसीएमएएफ़) , जो अमूल के उत्पादों का राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय बाज़ारों में विपणन करता है, में बोर्ड और अध्यक्ष की शक्तियों के बीच भारी खींचतान चल रही है. सहकारी सदस्यता इतनी अधिक हो गई है कि इसकी संख्या लाखों तक पहुँच गई है और यही कारण है कि यह आंदोलन राजनैतिक जोड़-तोड़ का आकर्षक शिकार बनने लगा है और राजनैतिक दलों की लालची निगाहें इसे वोट-बैंक की राजनीति में झपटने के लिए छटपटा रही हैं. आंशिक रूप में इन प्रवृत्तियों की प्रतिक्रियास्वरूप राष्ट्रीय डेरी विकास बोर्ड (एनडीडीबी) ने हाल ही में इसे “राष्ट्रीय डेरी योजना” (एनडीपी) के रूप में विकसित कर दिया है, जो अपने आपमें निजीकरण की अर्थव्यवस्था में सहकारी मूल्यों के संरक्षण और मज़बूती के लिए एक साहसिक प्रयास है. इस योजना में स्थापित सहकारी व्यवस्था का वैकल्पिक डिज़ाइन देने और वर्तमान सहकारी व्यवस्था का ढाँचा बदलने का प्रयास किया गया है जो मोटे तौर पर भारत देश (अर्थात् गाँव → ब्लॉक → ज़िला → राज्य) के ढाँचे के अनुरूप है. इसमें भी कोई अचरज की बात नहीं है कि वर्तमान सहकारी संस्थाओं की ओर से इसका काफ़ी विरोध किया गया है और इस

कारण वे राष्ट्रीय डेरी विकास बोर्ड (एनडीडीबी) की मंशा पर ही संदेह करने लगे हैं और उन पर पारदर्शी न होने का आरोप भी लगा रहे हैं.

“आणंद ढाँचे” के मॉडल पर विकसित डेरी सहकारी संस्थाएँ बहुत मज़बूत हैं, लेकिन इस समय कट्टरपंथी और लचीलापन न होने के कारण उन पर बहुत तरह के दबाव और समस्याएँ हैं. “उत्पादक कंपनी” का डिज़ाइन, जो अपने आपमें नवोन्मेषकारी प्रयास है, का प्रयोग तो अभी भी चल रहा है, लेकिन डेरी क्षेत्र के अंदर ही पिछली “सहकारी” संस्कृति वाले कुछ सदस्यों की ओर से उसका अभी-भी विरोध हो रहा है. वादविवाद खत्म होने का नाम नहीं ले रहा है और जैसे-जैसे राष्ट्रीय डेरी विकास बोर्ड (एनडीडीबी) की “राष्ट्रीय डेरी योजना” (एनडीपी) अनावृत हो रही है, नए-नए रचनात्मक रूपों में इसका उदाहरण हमारे सामने आ रहा है कि स्थापित संस्थाएँ किस प्रकार से समकालीन प्रबंधन की चुनौतियों पर प्रतिक्रिया व्यक्त करती हैं. राष्ट्रीय डेरी विकास बोर्ड (एनडीडीबी) ने कई प्रकार की पहल की हैं, लेकिन जीएसएमएमएफ जैसे संगठनों और कई प्रतिष्ठित निजी डेरियों की ओर से इसे प्रतिस्पर्धा का सामना भी करना पड़ रहा है. एक ओर डेरी क्षेत्र में खींचतान चल रही है, दूसरी ओर उत्पादक कंपनी के मॉडल का सफल प्रयोग कई नए उद्यमी कंपनियों (जैसे, फ़ैब्रिंडिया और डीसीएम हरियाली) और अन्य अनेक गैर-सरकारी संगठनों द्वारा किया जा रहा है. डिज़ाइनकर्ताओं के लिए यह शुभ संकेत है. कानून में साफ़ तौर पर वर्तमान संगठनात्मक व्यवस्था के एक महत्वपूर्ण विकल्प का प्रावधान किया गया है, लेकिन यह तो समय ही बताएगा कि नए उद्यम कितने टिकाऊ होते हैं और किस आर्थिक क्षेत्र में यह मॉडल सफल होता है.

अंतर्राष्ट्रीय डिज़ाइन हमेशा दुविधा में रहते हैं. भारतीय संदर्भ में परिवर्तन की मुख्य संचालक अब सरकार नहीं रही, बल्कि राज्य, नागरिक समाज और निजी क्षेत्र के बीच बड़े ही दिलचस्प रूप में एक रणनीतिक गठबंधन उभर रहा है, बस सबसे खराब बात यही है कि यह गठबंधन अस्थिरता और भ्रम की स्थिति पैदा करता है, लेकिन इससे अधिक आशावादी पूर्वानुमान यह भी है कि इससे उद्यमियों की रचनात्मकता और लचीलापन बढ़ेगा, जैसा कि कुछ उत्पादक कंपनियों और अधिकाधिक उद्यमी सहकारी संस्थाओं की सफलता से पता चलता है. मंथन की इस स्थिति से ही पता चलेगा कि किस प्रकार आज़ादी के आरंभिक वर्षों में सहकारी संस्थाएँ चारों ओर उभर रही थीं और “उत्पादक कंपनियों” के झंडे तले उभरते नए गठबंधन कैसे अपने आपको स्थापित करते हैं और ग्रामीण भारत में संस्थागत सुधारों का महत्वपूर्ण सिलसिला उभरता है. खास तौर पर यह इसलिए भी सही है क्योंकि ये संगठनात्मक ढाँचे निजी उद्यम और राज्य के साथ मिलकर भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था के जीर्णोद्धार और पुनर्निर्माण के लिए ईंटों

की तरह हैं, जिनका तेज़ी के साथ व्यापारीकरण हो रहा है. यह प्रत्याशा तो की जा सकती है और यह मानना गलत नहीं होगा कि अनेक कृषक संगठन, उत्पादक दल और सहकारी संस्थाएँ व्यापारिक दलों के साथ घनिष्ठता से मिलकर काम करेंगे, नई भागीदारी और सहयोग के रास्ते खुलेंगे. इन रणनीतिक गठबंधनों की सफलता बहुत कुछ व्यक्तिगत राजनीति की तरह राजनैतिक अर्थव्यवस्था की शक्तियों पर भी निर्भर करेगी और अंततः यह इस बात पर निर्भर होगा कि संगठनात्मक ढाँचे आगामी वर्षों में किस प्रकार उत्पादक कंपनियों और सहकारी संस्थाओं की तरह ग्रामीण उत्पादकों की कल्पना शक्ति का लाभ उठा सकेंगे.

विवेक भंडारी ग्रामीण प्रबंधन संस्थान, (आईआरएमए) आणंद में सामाजिक विज्ञान के निदेशक और प्रोफेसर हैं. वे भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान (कैसी)के पतझड़ 2010 के सत्र में अभ्यागत विद्वान् (विज़िटिंग स्कॉलर) रहे हैं.

हिंदी अनुवाद: विजय कुमार मल्होत्रा, पूर्व निदेशक (राजभाषा), रेल मंत्रालय, भारत सरकार
<malhotravk@hotmail.com>